प्राचीन भारत में सभा और समिति

डॉ0 निर्मला गुप्ता*

'ऋग्वेद' में सभा शब्द का उल्लेख आठ बार हुआ है। यह सभा में इकट्ठे लोगों और सभाभवन, यानी सभास्थल, दोनों का द्योतक है। सभा भवन के अर्थ में यह परवर्ती ग्रंथों में भी प्रयुक्त मिलता है। यजुः संहिता में ग्राम, वन या सभा[1] में किए गए पापों का वर्णन है। स्पष्ट है कि इन प्रसंगों में यह शब्द स्थानवाचक है। एक स्थल पर[2] सभापाल का उल्लेख भी मिलता है जिससे सभाभवन के संरक्षक का बोध होता है। 'सभा' में कौन लोग थे ? विप्र के साथ 'सभेय'[3] विशेषण के प्रयोग से यह संकेत मिलता है कि जब 'सभा' प्रशासनिक प्रयोजनों से बुलाई जाती थी तब यह गिने–चुने लोगों, अर्थात ब्राहमणों और गुरुजनों की बैठक होती थी। एक परवर्ती ऋग्वैदिक उल्लेख[4] में स्त्री को 'सभावती' अर्थात सभा में जाने योग्य, कहा गया है, जिससे पता चलता है कि स्त्री सदस्य भी इस संस्था में भाग लेते थे।

चूंकि अत्यंत आदिम सभाओं में ही स्त्रियों के सभागमन की प्रथा थी, इसलिए 'समिति' की तुलना में 'सभा' की पुरातनता सिद्ध होती है। इसकी पुरातनता का संकेत इस तथ्य से भी मिलता है कि 'समिति' शब्द के विपरीत 'सभा' शब्द के अनेक समरूप भारोपीय भाषाओं में उपलब्ध हैं। शायद सबसे पहले हॉपकिंस ने 'सभा' की प्राचीनता की ओर संकेत किया और इसकी तुलना जर्मन शब्द सिप्पे[5] से की। अब यह सिद्ध हो गया है कि सभा (तुलनीय भारतीस स (उ) एभौ) शब्द एक ऐसी मूल धातु से निकला है जिसका पुरानी यूरोपीय भाषा के 'सुब् (ब)', पुरानी जर्मन (हाई जर्मन) भाषा के 'सिप्प् (ए) अ', गोथिक 'सिब्ज'; और मध्य जर्मन 'सिप्पे' से निकट का संबंध है। इन सभी का अर्थ सगेसंबंधियों जनजाति, परिवार या गोत्र का संघ है। बंद्योपाध्याय ने ठीक ही कहा है कि भारत की प्रारंभिक 'सभाएं' भी कुछ इसी प्रकार की रही होंगी।[6] दूसरे शब्दों में ये जनजातीय सभाएं थीं। 'सभा' का लोकप्रिय और आदिम स्वरूप इसमें निबटाए जाने वाले सीधे सरल कार्यो से भी भासित होता है। कार्यविभाजन की प्रणाली से अपरिचित किसी भी आदिम सभा की तरह इसके सदस्य भी एकत्र होकर पासा खेलते थे, प्रार्थना तथा यज्ञ करते थे, और पशुओं को पालतू के बारे में विचारविमर्श करते थे।

किंतु अगे चलकर 'सभा' का स्वरूप मुख्यतः पितृतंत्रात्मक और अभिजातीय हो गया। प्रारंभ में स्त्रियां इसमें सम्मिलित हुआ करती थीं, उत्तर वैदिककाल में यह चलन समाप्त हो गया।[7] द्रौपदीकांड के संदर्भ में कहा गया है कि अनादिकाल से स्त्रियां सभा में नहीं जाती थीं। कालांतर से सभा शब्द का अर्थ एक साथ चमकने वाले पुरुषों का निकाय हो गयां इससे यह संकेत मिलता है कि जो लोग इसमें बैठते थे वे विशिष्ट पुरुष माने जाते थे। 'सभा' के सदस्यों का सामाजिक दर्जा बहुत ऊँचा था, यह सिद्ध करने के लिए लुडविग ने अनेक ऋचाएं उद्धृत की हैं। 'ऋग्वेद' की एक ऋचा में घोड़ों, रथों और गौओं से संपन्न तथा धन प्राप्त करने वाले एवं सभा में जाने वाले इंद्रउपासकों का[8] उल्लेख है। एक दूसरी ऋचा में यशस् द्वारा सभासद को प्रदत्त प्रमुखता का जिक्र है;[9] और एक तीसरी ऋचा में अग्नि के चारों ओर उच्च कुलोत्पन्न लोगों (सुजातों) के ('सभा' से भिन्न संदर्भ में) जमावों[10] का वर्णन है। सायण के अनुसार इन सुजातों में पुरोहित ओर उनके यजमान सम्मिलित हैं, लेकिन पाठ से ज्ञात होता है कि ये सुवीर थे। बंद्योपाध्याय ने कुछ अन्य उल्लेख उद्धृत किए है। दृष्टांतस्वरूप, 'अथर्ववेद' में कहा गया है कि 'राजा लोग एकत्र होते हैं, [11] और हमारा अनुमान है कि वे शायद सभापूर्ति के लिए एकत्र होते थे। 'ऋग्वेद' की एक ऋचा[12] में उपासक लोग गृहकार्य कुशल तथा 'सभा' और यज्ञ में प्रमुखता रखने वाले पुत्रों की याचना करते हैं। यहां 'सभेय; शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ सभा में बैठने का पात्र होता है। 'ऋग्वेद' की एक अन्य ऋचा में 'सभेय विप्रों' का उल्लेख है, जिससे प्रकट होता है कि सभा में पुरोहित भी सम्मिलित होते थे। अतः पूर्व वैदिक ग्रंथों में भी 'सभा' के जनजातीय स्वरूप को सिद्ध करने वाले अधिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। इसके विपरीत, उनसे 'सभा' में उच्च सामाजिक दर्जे वाले लोगों की उपस्थिति का आभास मिलता है। विद्वान, प्रभावशाली और चरित्रवान लोग इसमें अपना प्रभाव रखते थे और इसलिए उन्हें सभेय या सभासद कहा जाता था। 'ऋग्वेद' की अनेक ऋचाओं में इस निकाय की गरिमा के अनुरूप भाषणों का उल्लेख है।[13] 'शतपथ ब्राह्मण' में सोम का वर्णन ऐसे राजाधिराज के रूप

* असिस्टेंट प्रोफेसर, प्राचीन इतिहास, पी0जी0 कालेज पट्टी, प्रतापगढ़

में किया गया है जिसके राजदरबार में अधीनस्थ राजाओं का समूह एकत्र होता था। इससे प्रकट होता है कि उत्तर वैदिककाल में सरदार लोग राजदरबार में उपस्थित होते थे। एक अनुमान यह है कि 'गुरुजन या पिता राजदरबार में उपस्थित होते थे',[14] हालांकि वैदिक साहित्य से इस बात की पुष्टि नहीं होती।

'सभा' का मूल जनजातीय स्वरूप ऋग्वैदिक काल में ही क्षीण पड़ने लगा। जब सामाजिक वर्ग विकसित अवस्था में नहीं थे, अमीर–गरीब का अधिक भेद नहीं था और राजपद में स्थायित्व नहीं आया था, तब शायद यह जनजातीय सभा रही होगी लेकिन 'ज्यों–ज्यों आर्थिक असमानता बढ़ती गई और सामाजिक वर्ग विकसित होते गए, त्यों–त्यों वह उन हैसियतदार धनी लोगों और गुरूजनों से संपृक्त होता चला गया जिनकी बात समाज में मानी जाती थी।[15] जिनके पास गायें, घोड़े और रथ थे वे शासक वर्ग में आते थे, तथा वे अपने उन निःस्वत्व और गरीब गौत्रबंधुओं के ऊपर थे जो 'सभा में नहीं बैठ सकते थे। स्पष्टतः सत्ता घोड़ों और रथ रखने वाले अभिजात वर्ग के पास थी, जिसके सदस्यों से 'सभा' गठित होती थी। 'यही लोगराजा के परामर्श–मंडल के सदस्य थे राजा उनकी राय और परामर्श पर निर्भर हो गया। इस निकाय (सभा) का विकास उसी ढंग पर हुआ जिस ढंग पर ट्यूटनों की सरदार परिषद, रोमनों की सिनेट या एंग्लोसैक्सनों का विटनाजेमूट विकसित हुआ।[16]

सबसे आरंभिक उल्लेखों से 'सभा' के राजनीतिक स्वरूप की प्रमुखता का आभास नहीं मिलता। इसके विपरीत 'ऋग्वेद' की एक ऋचा में 'सभा' के अक्ष (पासा) और जुआ खेलने का जमाव कहा गया है।[17] यदि परवर्ती परंपरा के आधार पर देखा जाए तो कहना होगा कि 'सभा' का उपयोग सामूहिक नृत्य, संगीत आदि क्रीड़ाओं के स्थल के रूप में भी किया जाता था। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि आदिम जन खेलकूद, राजनीति और धर्म के बीच कोई भेद नहीं बरतते हैं। सभा का संबंध जादूटोने आदि लोकप्रथाओं से भी था। दृष्टांतस्वरूप 'अथर्ववेद' की एक ऋचा [18] में कहा गया है कि 'इन लोगों ने 'सभा' में उसके लिए जो भी जादूटोने किए है, मैं उनको वापस लेता हूँ।'

'सभा' में चारागाहों से संबंधित मामलों पर भी विचारविमर्श होता था। चूंकि पशु, लोगों के जीवनयापन का एक प्रमुख साधन थे, इसलिए 'सभा' को गायों की श्रेष्ठता पर विस्तारपूर्वक विचार करने में आनंद आता था। [19] लोग दुबली–पतली गायों को मोटी बनाने की चिंता व्यक्त करते थे। वे 'सभा' में गायों की प्रशंसा करते नहीं अघाते थे और बड़े ओज के साथ उनकी शक्ति का स्मरण करते थे।[20]

'सभा' धर्मसंबंधी कार्यकलाप से भी रहित नहीं थी। इसके सदस्य इंद्र से सभा और सभासदों की रक्षा की याचना करते थे। जब इसकी बैठक आरंभ होती थी, इसमें यज्ञ किया जाता था और इस यज्ञाग्नि को सभ्य कहा जाता था।

'सभा' में राजनीतिक और प्रशासनिक कार्यो का भी संपादन होता था। अनेक उल्लेखों से प्रकट होता है कि सभा न्यायकार्य भी करती थी। इस तथ्य पर अनेक लेखकों ने जोर दिया है। 'ऋग्वेद' की एक परवर्ती ऋचा के आधार पर सभा को ऐसी संस्था के रूप में दिखलाने की कोशिश की गई है जो अभियोग लगाकर लोगों का कलंक मिटाती थी। [21] पुरुषमेध में सभाचर के धर्मबलि के रूप में अर्पित किए जाने का उल्लेख है। धर्म का अर्थ है न्याय। अतः मैकडोनेल के अनुसार सभाचार को न्यायालय का सदस्य या शायद उन लोगों में से एक मानना कठिन नहीं होना चाहिए जो मुकदमों में निर्णय देने के लिए बैठते थे। [22] मैकडोनेल सभासद का भी संबंध उन परामर्शदाताओं से जोड़ते है जो सभा में कानूनी मामले निबटाते थे। वह आगे कहते हैः 'यह भी संभव है कि सभासदों से, जो संभवतः परिवारों के प्रधान हुआ करते थे। यह आशा की जाती थी कि वे सर्वसामान्य लोगों से अधिक नियमितता से सभा में उपस्थित रहें। सामान्य विचार–विमर्श और निर्णय करने के उद्देश्य से होने वाली बैठकों की अपेक्षा न्याय करने के लिए सभा की अधिक बैठकें होती होंगी।' मैकडोनेल का यह भी कहना है कि न्यायिक कार्य पूरी सभा नहीं, बल्कि उसकी स्थायी समिति संपन्न करती थी।[23] सभा न्यायिक निकाय के रूप में कार्य करती थी, इसके संबंध में जायसवाल ने भी साक्ष्य प्रस्तुत किए है। 'सभा' को 'कष्ट' और 'प्रचंड' [24] कहा गया है, जिससे यह ध्वनित होता है कि जो विधि का उल्लंघन करता था, उसके लिए 'सभा' कष्टदायक थी। ऐसा उल्लेख मिलता है कि चोरों और अपराधियों को घसीटकर 'सभा' में लाए जाने पर कभी–कभी सभासद वक्रोक्तियों से भरे आक्रामक भाषण सुना देते थे; और जान पड़ता है, धनी से धनी और प्रभावशाली से प्रभावशाली लोगों को भी 'सभा' में एकत्र अपने समकक्ष जनों के निर्णय को स्वीकार करना पड़ता था।[25] तमाम उल्लेखों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि सभा में न्यायिक कार्य होते थे।

'मैत्रायणी संहिता' में सभा का उल्लेख ग्राम्यवादिन् (गांव के न्यायाधीश) के न्यायालय के अर्थ में हुआ है। ग्राम्यवादिन् का उल्लेख सभी यजुःसंहिताओं में आया है। इसके अतिरिक्त प्राचीन मिथकों में यम के बारे में, जो मृतकों का राजा और न्यायकर्ता है कहा गया है कि उसकी 'सभा' और उनके सभासद हैं। अथर्ववेद की ऋचा में पृथ्वी पर पूरी की गई आशाओं या संपन्न किए गए सकर्मों[26] का सोलहवां भाग यम के सभासदों द्वारा आपस में बांटे जाने का जिक्र है। अतः इसमें संदेह नहीं कि 'सभा' में न्यायिक कार्य होते थे, यद्यपि इस पहलू पर प्रकाश डालने वाले अधिकांश उल्लेख उत्तर वैदिककाल के हैं। जो भी हो, जायसवाल का यह कथन कि 'सभा' राष्ट्रीय न्यायालय [27] थी, सही निष्कर्ष नहीं जान पड़ता।

'सभा' का न्यायिक् स्वरूप परवर्तीकाल में भी कायम रहा। जातकों में एक पुरानी गाथा मिलती है, जिसमें कहा गया है कि वह 'सभा' नहीं जिसमें संत न ही हों, जो लोग धर्म (न्याय) नहीं बोलते वे संत नहीं हैं और संत वही है जो वैयक्तिक राग–द्वेष छोड़कर धर्म बोले।[28] इसके अतिरिक्त परामर्शदाता के अर्थ में सभासद शब्द का प्रयोग सूत्रों और स्मृतियों के काल तक होता रहा है। इन दोनों कोटियों के ग्रंथों में सभासदों के लिए अपेक्षित योग्यताएं नियत की गई हैं। 'विधिसाहित्य में सभा न्यायालय या न्यायिक सभा है, जिसकी अध्यक्षता, मुख्य न्यायाधीश के रूप में राजा करता है, और जिसमें साक्षियों तथा अभियुक्तों पर सत्ता रखने वाले अधिकारियों के रूप में केवल पार्षद, न्यायाधीश और पुलिस अधिकारी भाग लेते है।[29]

पूर्ववर्ती और परवर्ती दोनों ही स्रोतों में प्रमाण मिलता है कि राजा 'सभा' में उपस्थित रहता था। यद्यपि कुछेक स्थलों पर समिति द्वारा राजा के निर्वाचन का संकेत मिलता है, लेकिन सभा द्वारा राजा के निर्वाचन का संकेत मिलता है, लेकिन सभा द्वारा ऐसे निर्वाचन का हमें कोई भी उल्लेख नहीं मिलता। किंतु वैदिककाल में राजा सभा में निश्चिय ही उपस्थित होता था। पूर्ववर्ती काल में संभवतः वह नियमित रूप से सभा की अध्यक्षता नहीं करता था, क्योंकि यजुःसंहिताओं में सभापति का पृथक उल्लेख है। पर परवर्तीकाल में सभा की कार्यवाही उसकी अध्यक्षता में होती थी। 'छांदोग्य उपनिषद'[30] में ऐसे दो उल्लेख मिलते है जिनसे पता चलता है कि राजा की अपनी सभा होती थी। 'शतपथ ब्राह्मण' [31] में सोम का वर्णन ऐसे राजाधिराज के रूप में किया गया है जो अपनी सभा लगाता है और जिस सभा में अधीनस्थ राजाओं की एक साथ उपस्थिति होती है। यह हमें लिच्छवियों की सभा में बैठने वाले अनेक राजाओं की याद दिलाता है, जिनमें सभी बराबरी के ओहदा और हैसियत के दावेदार थे।

राजा 'सभा' के परमर्श को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समझता था और इसके सदस्यों के समर्थन के बिना शायद काम नहीं चला सकता था। ये सदस्य प्रस्तावों पर बोलते और तीव्र विवाद करते थे। 'अथर्ववेद' की एक ऋचा[32] के स्वर और भावना से यह बात स्पष्ट हो जाती है। बंद्योपाध्याय के अनुसार यह ऋचा शायद राजा बोलता है। 'प्रजापति की दो पुत्रियां 'सभा' और 'समिति', एक होकर मुझे संरक्षण प्रदान करें। जिस किसी से भी मैं मिलता हूँ वह मेरा आदर करे और मुझे सहायता दे। हे पितरो, 'सभा' में मेरे शब्द न्याययुक्त हों।

हे 'सभा', हम तेरा नाम जानते हैं, तेरा नाम परिसंवाद है। यहां 'सभा' में उपस्थित सभी लोग मुझसे सहमत हों।

वहां बैठे लोगों की श्री और विद्या मेरी हो। इंद्र यहां एकत्र सभी लोगों में मुझे प्रमुखता प्रदान करें।'

यदि राजा ऐसी प्रार्थना करता था तो स्पष्ट है कि वह 'सभा' के समर्थन की उपेक्षा नहीं कर सकता था। 'सभा' में प्रार्थना इसलिए की जाती थी कि सहयोग बना रहे और कलह नहीं हो। ऐसा मालूम होता है कि 'सभा' द्वारा पारित संकल्प सभी के लिए बंधनकारी था। 'अथर्ववेद' इसे नरिष्टा [33] कहता है। सायण ने इस शब्द की व्याख्या अनेक लोगों के ऐसे संकल्प के रूप में की है जो तोड़ा नहीं जा सके या जिसका उल्लंघन नहीं हो सके। इससे जायसवाल ने यह अनुमान लगाया है कि 'सभा' का संकल्प सभी के लिए बंधनकारी और अनुल्लंघनीय था। [34] किंतु ग्रिफिथ ने 'नरिष्टा' का अर्थ परिसंवाद और ह्विटनी ने खेलकूद किया है। [35] लेकिन होमरयुगीन सभाओं का जो स्वरूप था उसे देखते हुए सायण की व्याख्या अधिक समीचीन प्रतीत होती है। वीर युगीन (हिरोइक) यूनान में भी सभा का निर्णय सर्वोच्च और अंतिम होता था। शोमन अपनी पुस्तक 'एंटीक्विटीज आफ ग्रीस' में कहते हैः जितने भी स्थलों पर हमें सभा में किसी ऐसे विषय की चर्चा का वर्णन देखने को मिलता है जिसके कार्यान्वयन के

लिए जनता का सहयोग अपेक्षित था, उनमें से किसी भी स्थल पर होमर ने किसी भी ऐसे उपाय का संकेत नहीं किया है जिसके सहारे जनता को अपनी इच्छा के विरूद्ध उस विषय के कार्यान्वयन पर सहमत होने की विवश किया जा सकता है।' [36]

भारतीय महाकाव्यगत अनुश्रुतियों में 'सभा' के स्वरूप पर विचार करते हुए हॉपकिंस बताते हैः 'महाकाव्य' में हम 'सभा' को अनेक रूपों में पाते हैं। कहीं वह न्याय सभा, यानी न्यायालय है तो कहीं राजकीय सभा यानी राजदरबार है, कहीं आमोद–प्रमोद के लिए एकत्र सामाजिक सभा है तो कहीं, पुराने अर्थ में, राजनीतिक सभा[37] यद्यपि यह कहना कठिन है कि उपर्युक्त कथन में सभा के जिस स्वरूप का वर्णन हुआ है उसका संबंध किस कालविशेष से है, किंतु इससे इस बात का संकेत मिलता है कि उत्तर वैदिक परपंराएं आगे भी कायम रहीं।

ध्यातव्य है कि 'समिति' का उल्लेख 'ऋग्वेद' के उन्हीं भागों में हुआ है जो बाद के माने गए हैं। हमें इसके जो छ उल्लेख मिलते हैं, वे सबके सब मंडल 1 और 10 के हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि समिति का महत्त्व ऋग्वैदिक काल के अंत में या उसके भी बाद हुआं लेकिन 'सभा' के साथ बात दूसरी है। इसके चार उल्लेख 'ऋग्वेद' के प्रारंभिक अंशों में और चार बाद वाले अंशों में हैं। इसलिए 'समिति' 'सभा' से पुरानी नहीं दीखती। 'अथर्ववेद' में इन दोनों निकायों का साथ–साथ उल्लेख चार बार हुआ है और हर बार 'सभा' पहले और 'समिति' बाद में है। इससे भी संकेत मिलता है कि 'सभा' 'समिति' से पुरानी है। यह सामान्यतया स्वीकार किया जाता है कि प्रारंभिक 'समिति' ऐसी जनसभा थी जिसमें जनजाति के लोग जमा होकर अपना कामकाज करते थे। लुडविग के अनुसार 'समिति' अधिक व्यापक सभा थी, जिसमें न केवल सभी जनसामान्य (विशः) वरन ब्राह्मण और मघवन् के रूप में ज्ञात धनीमानी लोग भी शामिल होते थे। संभवतः यह होमरकालीन अगोरा जैसी कोई सामान्य जनजातीय संस्था थी। 'अथर्ववेद के संदर्भ में पता चलता है कि महिलाएं भी इसमें शामिल होती थी।[38] लेकिन महिलाओं का 'सभा' में जाना जितना स्पष्ट है, उतना इस (समिति) में जाना नहीं।

परवर्ती काल में राजन या राजकुल के लोग भी 'समिति' में जाते थे। वे इस निकाय के अति विविशष्ट सदस्य थे, और सामान्य लोग तो इसमें शामिल होते ही थे।[39] जायसवाल का विचार है कि 'समिति' का गठन किसी न किसी प्रकार के प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त पर होता था और नगर तथा ग्राम का प्रतिनिधित्व संभवतः उसका ग्रामणी करता था। [40] लेकिन उपलब्ध साक्ष्य से इस अनुमान की पुष्टि नहीं होती।

'समिति' की कार्यवाही राजनीतिक विषयों तक ही समिति नहीं थी। उत्तर वैदिक काल में इसमें दार्शनिक प्रश्नों की भी चर्चा होती थी। जब श्वेतकेतु ने विद्यार्जन के बादपूरे दार्शनिक साहित्य का ज्ञाता होने का दावा किया तब वह पंचालों की 'समिति' के समक्ष प्रस्तुत हुआ। पंचालों की जनसभा के अध्यक्ष राजन्य प्रवाहण जैवलि ने उससे पांच दार्शनिक प्रश्न किए जिनमें से किसी का भी उत्तर वह धृष्ट युवक न दे सका। इस पर जैवलि ने कहा : 'इन बातों का ज्ञान न रखने वाला कोई भी व्यक्ति कैसे कह सकता है कि उसकी शिक्षा हुई है ?[41] यहां 'समिति' ऐसी विद्वद्सभा के रूप में आती है जिससे शिक्षितों की ज्ञानपरीक्षा की जाती थी।

'समिति' का संबंध धार्मिक अनुष्ठानों और प्रार्थनाओं से भी था। समिति में सब एकमत होकर निर्णय पर पहुँचे, इसके लिए भी प्रार्थनाएं की जाती थीं। देवताओं को अर्पित बलि से भी समिति का संबंध था। एक ऋचा में समिति में अग्नि का आवाहन किया गया है, ताकि वह बलि का अपना अंश ग्रहण करें। इसमें यह कामना व्यक्त की गई है कि देवताओं के बीच भी देव समिति हो।[42]

बंद्योपाध्याय [43] का कहना है कि 'समिति' के कुछ सैनिक कार्य भी होते थे, क्योंकि टीकाकारों ने इस शब्द (समिति) का अर्थ युद्ध या व्यूह लगाया है। यास्क ने इसका अर्थ युद्ध बतलाया है।[44] क्लैसिकी साहित्य [45] में भी इस शब्द का ऐसा अर्थ बताया गया है। फिर, सायण ने समिति का अनुवाद युद्ध या संग्राम किया है।[46] और यहां हम अपनी ओर से इतना और कह सकते है कि 'अथर्ववेद' के एक उल्लेख से ऐसा संकेत मिलता है कि समिति और जनजातीय सैनिक इकाई ग्राम–जिनका समूह को संग्राम कहा जाता था–इन दोनों के बीच कोई अंतर नहीं था।[47] प्रारंभिक भारोपिय संस्थाओं के तुलनात्मक अध्ययन से भी समिति के सामरिक स्वरूप का समर्थन होता है। प्रारंभिक यूनानी, रोमन और जर्मन सभाओं में लड़ाई और मतदान साथ–साथ चलते थे। होमरकालीन स्वतंत्र जन सैन्यव्यूह में एकत्र होकर महत्त्वपूर्ण प्रश्नों

का निर्णय करते थे।[48] टैसिटस का कहना है कि जर्मन जनजाति के सशस्त्र स्वतंत्र जन अपने प्रधान के अधीन इकट्ठे होकर युद्ध और शांति संबंधी निर्णय लिया करते थे। यदि वे प्रधान के विचारों से अप्रसन्न होते हैं तो बुदबुदाकर उन पर अस्वीकृति व्यक्त करते हैं, यदि प्रसन्न होते तो अपने भाले भांज देते है। सहमति प्रकट करने का सर्वाधिक सम्मानजनक रूप अपने शस्त्रों से अपना अनुमोदन सूचित करना है।[49] प्राचीन रोम की जनसभा (कमिशिया सैंचुरियाटा) निश्चित रूप से सैनिक संस्था के रूप में काम करती थी। इन सबसे ध्वनित होता है कि सैनिक प्रयोजनों के लिए 'समिति' का उपयोग होता है।

'समिति' के राजनीतिक कार्य काफी स्पष्ट है। संदर्भो से संकेत मिलता है कि राजा 'समिति' द्वारा निर्वाचित और पुननिर्वाचित होता था। त्सिमर ने बहुत पहले ही कहा था कि जहां निर्वाची राजतंत्र था वहां समिति में इकट्ठे विश द्वारा ही राजा का निर्वाचन होता था। 'ऋग्वेद' के एक अवतरण (X.166.4) के संबंध में उनका ख्याल है कि उससे कुछ ऐसा संकेत मिलता है कि राजपद का कोई प्रभावशाली प्रत्याशी 'समिति' के विरोध के बावजूद अपनी इच्छा की पूर्ति की कामना कर रहा है। त्सिमर 'अथर्ववेद' की एक ऋचा[50] से समिति के निर्वाचन विषयक कार्यो का अनुमान लगाते हैं, जिसका समर्थन जायसवाल ने भी किया है। लेकिन उस ऋचा में दरअसल जनजाति के सदस्यों (विशः) द्वारा राजा के चुनाव का उल्लेचख है। फिर भी, जैसा कि घोषाल का मत है, विशेष प्रसंगों में 'समिति' राजा का निर्वाचन करती रही हो, इसमें असंभव जैसा कुछ नहीं है।

'समिति' में जाना राजा का कर्तव्य था, यह बात इस उपमा के प्रयोग से स्पष्ट की जाती है–'समिति में जाते हुए किसी सच्चे राजा की भांति। ऐसी अनेक ऋचाएं है जिनमें राजा को समिति में उपस्थित होते और उसकी कार्यवाहियों का मार्गदर्शन करते दिखलाया गया है।[51] पंचालों औरा विदेहों के राजा इसके प्रमुख दृष्टांत है। 'समिति' को राजा का बहुत बड़ा सहारा माना जाता था। एक राजा अपने विपक्षियों के विनाश के लिए प्रार्थना करता है और दावा करता है कि उसने उनके चित्त, उनकी जीवन पद्धति (व्रत) और उनकी 'समिति' पर आधिपत्य कायम कर लिया है।[52] 'समिति' पूर्व वैदिककाल की राज्यव्यवस्था का ऐसा अभिन्न अंग थी कि इसके बिना राजा की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। भैंस के लिए जिस तरह वन था, सोमरस के लिए जिस तरह घड़ा था, पुरोहितों के लिए जिस तरह याजक था, उसी तरह राजा के लिए 'समिति' थी।[53] इस मुख्य अवलंब के बिना राजशक्ति के अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। राज्याभिषेक के बाद पुरोहित मंत्रोच्चार करता है कि राजा सिंहासन पर स्थापित हो और समिति उसके प्रति निष्ठावान रहे।[54] एक सूक्त में ब्राह्मण पुरोहित उन क्षत्रिय शासकों को शाप देता है जो ब्राह्मणों के पशुओं को नष्ट करते हैं। उस संदर्भ में वह अत्याचार क्षत्रिय शासकों के राष्ट्र पर आई विपत्ति का उल्लेख करता है। कहा गया है कि मित्रवरूण पुरोहित का अहित करने वालों पर वर्षा नहीं करता। 'समिति' (यानी जनसभा और इसलिए निष्ठा) उसकी वशवर्ती नहीं रहती और वह ऐसे मित्र प्राप्त नहीं करता जो उसकी इच्छानुसार काम करें।[55]

सार्वजनिक भूमि पर शायद जनजाति के सदस्यों (विश) का नियंत्रण होता था, जो 'समिति' जैसी सभाओं में एकत्र होते थे। 'शतपथ ब्राह्मण'[56] के एक उल्लेख में इस पर जनसभा के नियंत्रणाधिकार का स्पष्ट संकेत है। उसमें कहा गया है, 'यदि विश के अनुमोदन से क्षत्रिय किसी को कोई बस्ती प्रदान करता है, तो वह बस्ती उचित रूप से प्रदत्त है। 'घोषाल के अनुसार, इसका अर्थ यह प्रतीत होता है कि लोगों की सहमति से जनभूमि या सार्वजनिक भूमि का राजा द्वारा अनुदान किया जाना जनजातीय या प्रथागत विधि के अनुरूप माना जाता था। यद्यपि इस उद्धरण से 'समिति' का उल्लेख कहीं नहीं हुआ है, लेकिन संभव है, जनजातीय लोग इस निकाय से एकत्र होने पर भूमि के वितरण पर विचारविमर्श करते रहे हों। 'होमरकालीन साक्ष्य से स्पष्ट दीख पड़ता है कि जहां शक्ति या विशेषाधिकार के अनुदान की सत्ता राजा को थी, वहीं भूमि के अनुदान का हक सामान्यजनों को था, जो अपने नेताओं को सैनिक सेवा के पुरस्कारस्वरूप भूसंपदाएं (इस्टेट) प्रदान करते थे। ये भूसंपदाए अन्य भूसंपदाओं से इन इस मानी से भिन्न थी किंतु ये भाग्यदा (लाटरी) की विधि से जनजाति या कुल को नहीं, बल्कि विशेष दान के रूप में व्यक्ति विशेष को दी जाती थी।[57]

'ऋग्वेद' और अथर्ववेद दोनों में समिति से विचारों की एकता पर बहुत जोर दिया गया है। सभा में सहमति के लिए प्रार्थना करते हुए कवि कहता है, हमारा मंत्र एक हो, 'समिति' एक हो, मन एक हो और हमारे विचार (चित्त) एक हों। लोग 'समिति' से सहमति पर पहुँचने का प्रयत्न करते थे। [58] एक

स्थल पर समान मंत्रों समान 'समिति' और समान व्रत की प्राप्ति की कामना की र्ग है।[59] मतैक्य पर जोर दिया जाना आदिम समुदायों में प्रचलित प्रथा के अनुरूप ही है। उदाहरणार्थ, 'ओइरोक्वोइ लोगों के बीच अंतिम निर्णय सर्वसम्मत होना आवश्यक था और यही बात जर्मन समुदायों के अधिकतर निश्चयों के साथ लागू थी।[60] लेकिन 'समिति' में ऐसा मतैक्य काफी वादविवाद के उपरांत ही प्राप्त होता था। सभी प्रार्थनाओं और विधिविधानों, सभी तंत्रमंत्रों और उनकी काटों का केवल एक ही उद्देश्य था–वादविवाद में अपने प्रतिपक्षी को निरुत्तर करना, उपस्थित सदस्यों से विचाराधीन प्रश्न पर अपने मत को स्वीकृत करवाना, अपने वचनों को सदस्यों के लिए प्रीतिकर बनवाना, और प्रतिकूल विचार रखनेवालों की बुद्धि को अपने अनुकूल बनाना।[61]

'समिति' विचारविमर्श करने की बहुत महत्वपूर्ण संस्था थी। मतैक्य पर पहुंचने के लिए इसमें जोरदार वादविवाद होता था। एक प्रार्थना में कहा गया है, 'हमारे विचारविमर्श हमें एक ही बिंदु की ओर ले जाएं, हमारे वादविवाद का उद्देश्य एक हो, हमारे संकल्पों का परिणाम एक हो। हे राजा सोम, उनमें सहमति के बीज बोओ।[62] वक्ता अपने को समिति में प्रतिभावान, जिसका कोई खंडन न करें, ऐसा सिद्ध करना चाहता था। स्पष्ट ही अध्यक्ष के रूप में राजा से आशा की जाती थी कि वह कार्यवाही का संचालन इस प्रकार से करे जिससे प्रत्येक प्रश्न पर आम राय बन सके। मतैक्य और मेलजोल करने के लिए जादूटोने और वशीकरण का भी सहारा लिया जाता था।[63]

अनेक उल्लेखों से प्रकट होता है कि 'समिति' अत्यधिक अधिकारों से संपन्न थी। लेकिन जायसवाल की तरह यह कहना कि संवैधानिक दृष्टि से 'समिति' एक प्रभुसत्तासंपन्न थी, साक्ष्यों की खींचतान माना जाएगा।[64] हो सकता है कि प्रारंभिक अवस्था में यह सर्वोच्च सत्तासंपन्न रही हो, लेकिन वैदिककाल के अंत तक इसकी वह सत्ता कायम नहीं रही। 'समिति' को प्राचीन जर्मन संविधान की उस प्रभुसत्तासंपन्न जनसभा का प्रतिरूप नहीं माना जा सकता जिसका वर्णन टैसिटस ने किया है।

सभा और समिति का भेद ठीक–ठीक नहीं बतलाया जा सकता। शुरू में, संभवतः दोनों के गठन और कार्यो में कोई भेद नहीं था। यह बात होमरकालीन सभा और परिषद के आपसी संबंध पर भी लागू होती है। वैदिक लोगों की राय में दोनों का उद्गम एक ही है, क्योंकि दोनों ही प्रजापति की पुत्रियां है। 'अथर्ववेद' की एक ऋचा से ज्ञात होता है कि इन दोनों संस्थाओं की बैठक का कोई निश्चित स्थान नहीं था, बल्कि अपने दल–बल के साथ आवश्यकतानुसार इधर–उधर घूमते रहने वाले अपने–अपने सरदारों के साथ–साथ इनकी बैठक के स्थान भी बदलते रहतें थे।[65] चैडविक का कहना है कि ऐसे कुछ साक्ष्य मौजूद हैं जिनसे 'पता चलता है कि 'सभा' और 'समिति' में कोई स्पष्ट अंतर नहीं था।[66] संभवतः एकमात्र अंतर यही था कि 'सभा' न्यायिक कार्य करती थी, जो 'समिति' नहीं करती थी। बाद में 'सभा' का रूप अभिजातीय होता चला गया और अंत में वह राजदरबार बन गई और 'समिति' का लोप हो गया। जायसवाल का विचार है कि परवर्तीकाल में 'समिति' के स्थान पर परिषद आ गई। लेकिन यह बात तो 'सभा' पर भी लागू होती है। फिर, 'सभा' के विपरीत, 'समिति' लड़ाई में भाग लेती थी। दोनों संस्थाओं में कुछ धार्मिक कृत्य अवश्य होते थे, यद्यपि ये प्रमुख नहीं थे। चैडविक के अनुसार, स्वीडन की जनजातीय सभाएं मुख्यतः धार्मिक सभाएं प्रतीत होती हैं, जो प्रमुख राष्ट्रीय यज्ञमंडप (सैंक्चुअरी) पर महान वार्षिक बलि चढ़ाने के लिए एकत्र होती थी। इसकी काफी संभावना है कि प्राचीन जर्मनों की सभाओं के साथ भी यही बात लागू होती हो।[67] एक हद तक यही बात सभा और समिति के बारे में भी कही जा सकती है।

'सभा' और 'समिति' के स्वरूप के संबंध मे विद्वानों के बीच मतैक्य नहीं है। हिलब्रांट के अनुसार 'सभा' और 'समिति' में कोई भेद नहीं हो सकता; दोनों से एक ही चीज का संकेत मिलता है। लेकिन 'अथर्ववेद' में कम से कम चार बार 'सभा' और 'समिति' का प्रजापति की दो पुत्रियों के रूप में उल्लेख हुआ है। ब्लूमफील्ड[68] के अनुसार, 'सभा' एक सम्मिलन स्थल थी, जो सामाजिक समारोहों के केंद्र का भी काम करती थी। उसका यह भी विचार है कि 'सभा' का अर्थ आमतौर पर सार्वजनिक रूप से लोगों का कहीं एकत्र होना होता है। किंतु 'सभा' केवल एक स्थान विशेष रही हो, यह संभव नहीं लगता क्योंकि इसे न्यायिक कार्य भी संपन्न करने पड़ते थे। त्सिमर 'सभा' को ग्रामसभा मानते है। इसी आधार पर मजूमदार इसे स्थानीय संस्था मानते हैं, जबकि 'समिति' को केंद्रीय संगठन मानते है। लेकिन 'सभा' में तो राजा भी जाता था, और उससे हरेक ग्रामसभा में जोन की अपेक्षा करना बहुत अधिक होगा? इसके

अतिरिक्त अनेक यजुर्वेदीय संहिताओं में 'सभा' का उल्लेख ग्राम और अरण्य के साथ हुआ है।[69] यदि इसे गांव के साथ जोड़ा जा सकता है तब तो वनों के साथ भी जोड़ने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए, और उस हालत में उसे बनसभा भी कहा जा सकता है।

इन दोनों वैदिक संस्थाओं के पारस्परिक संबंध के बारे में सामान्यतः लुडविग के विचार को स्वीकार्य माना गया है। उसके अनुसार 'समिति' समस्त जनसमुदाय की संस्था थी और 'सभा' होमरकालीन गुरूजनसभा जैसी संस्था थी। यह गिनेचुने लोगों की निकाय थी, जिसमें जनजाति के केवल श्रेष्ठ जन (मधवन्) ही राजा के साथ परामर्श करने के लिए जा सकते थे। जायसवाल इससे प्रायः सहमत हैं। उनका कहना है कि 'सभा' भी जननिकाय थी, लेकिन यह 'समिति' की सत्ता के अधीन कार्य करने वाले गिनेचुने लोगों की स्थायी और अचल निकाय थी।' नारायणचन्द्र बंद्योपाध्याय का विचार भी करीब–करीब ऐसा ही है, लेकिन घोषाल का मत है कि 'समिति' की तरह 'सभा' भरी जनसंस्था ही थी। इन दोनों निकायों के जनप्रिय रूप को स्वीकार करने में एक बड़ी कठिनाई है कि ऐसा मानना उचित नहीं जान पड़ता कि संपूर्ण वैदिककाल के दौरान–और वह बहुत लंबा काल है–इनका यही रूप कायम रहा। स्पष्टतया, 'सभा' शुरू में जनजातिय और सार्वजनिक संस्था भी और बाद में अभिजातीय बन गई, जब कि समिति ने उत्तर वैदिककाल का अपना जनरूप कायम रखा।

संदर्भ और टिप्पणियाँ

1. वा.सं. III. 45 xx. 17.
2. III. 7.4.5.
3. ऋग्वेद,11. 24. 13.
4. I.167.3.
5. पेजीशन ऑफ दि रूलिंग कास्ट्स एटसेटरा, ज.अ.ओ.सो.xiii 148,
6. डेवलपमेंट ऑफ हिंदू पॉलिटी एंड पॉलिटिकल थीअरीज, पृ. 110.
7. VI, ii, 427.
8. VIII, 4.9.
9. X,71.10.
10. VII, 1.4.
11. XIX, 52.2.
12. I, 91.20.
13. II, 24.13.
14. जायसवाल, हिंदू पॉलिटी (1924), पृ.18.
15. बंद्योपाध्याय की पूर्वोद्धत पुस्तक, पृ.113.
16. वहीं
17. X, 34.6.
18. V. 31.6.
19. ऋग्वेद, VI 28.6.
20. अथर्व IV 21.6.
21. ऋग्वेद, X 71.10.
22. VI,ii 427.28.
23. VI, ii 428.
24. पास्कर गृह्यसूत्र, अनु0एच0ओल्डनबर्ग, सै.बु.ई.,xxix. 362.
25. अथर्व., VII 12.3.
26. III 29.1.
27. जायसवाल, हिंदू पॉलिटी, पृ.18.
28. जतक, श्लोक 509, जिसे जायसवाल ने हिंदू पॉलिटी, पृ019, पादटिप्पणी, 8 में उद्धृत और स्पष्ट किया है
29. हॉपकिंस, ज.अ.ओ.सो.xiii 148.

30. V, 3.6; VIII.14.1.
31. तस्य राजानः सभागाःIII 3.3.14.
32. VII, 12. 1-3 (ग्रिफिथ के अनुवाद के अनुसार)
33. अथर्व.VII. 12.2.
34. हिंदू पॉलिटी पृ0 19.
35. हारवर्ड ओरिएंटल सिरीज, VII 397.
36. एंजेल्स द्वारा ओरिजिन ऑफ फैमिली, प्रोपर्टी एंड स्टेट (मास्को संस्करण)के पृ. 150 पर उद्धृत
37. ज.अ.ओ. सो.,xiii 148.
38. अथर्व.,VIII 10.5.
39. घोषाल, हिस्ट्री ऑफ पब्लिक लाइफ, i, 17.
40. डपरिवत, पृ. 15.
41. वृहदारण्यक उपनिषद, VI.2, छांदोग्य उपनिषद, V 3.
42. अथर्व.XVIII. 1.26.
43. पृ. 119.
44. निरूवत, II 107.
45. अमरकोश, II 8.107.
46. ऋग्वेद, X 97.6 का भाष्य (औषधियों के बीच जो स्थान वैद्य का है, वहीं 'समिति' का है).
47. ''ये संग्रामा समितयः (अथर्व XII, 1.56) का अर्थ जायसवाल ने समिति में एकत्र होने वाले गांव से लगाया है (हिंदू पॉलिटी पृ. 15) लेकिन उनके दिए इस दृष्टांत (वही) से कि शर्यात मानव अपने ग्राम के साथ भटक रहा था (श.बा, 1.5.2.7), साफ जाहिर है कि आरंभ में ग्राम कोई एक स्थान पर बसी इकाई नहीं, बल्कि अपने सरदार के नेतृत्व में चलने वाली जनजातीय टोली था.
48. बंद्योपाध्याय, पूर्वोद्धत कृति, पृ0 119 पर सिजविक का उद्धरण.
49. दि कप्लीट वर्क्स ऑफ टैसिटस, अनु.ए.जे. चर्च तथा डब्ल्यू.जे. ब्रोडरिब, 'जर्मनी एंड इट्स ट्राइब्स, 'फैगमेंट II पृ. 714.
50. III 4.2.
51. ऋग्वेद, IX 92.6;छांदोग्य उपनिषद् V, 3.
52. ऋग्वेद X 196.4.
53. ऋग्वेद इससे प्रसंगवश यह भी प्रकट होता है कि ऋग्वैदिकाल में भैंस नवागंतुकों द्वारा पालतू नहीं बनाई गई थी
54. अथर्व., VI, 88.3.
55. वहीं V 19.15.
56. VII 1.1.4.
57. टॉमसन, एस्काइलेज एंड एथेंस, पृ. 40, पर उद्धत
58. ऋग्वेद X 191.3.
59. अथर्व VI 64.2(ह्विटनी का अनुवाद) पृ0 329.
60. एंजेल्स, ओरिजिन ऑफ फैमिली, प्रापर्टी एंड स्टेट, पृ0 132.
61. आर0सी0 मजुमदार, कॉपेरिट लाइफ इन एंश ट इंडिया पृ0 125–26.
62. अथर्व VI 88.3.
63. वहीं, III 30.
64. हिंदू पॉलिटी पृ0 12–13.
65. अथर्व XV. 9.
66. दि हिरोइक एज, पृ0 384
67. वहीं, पृ0 369
68. ज0अ0ओ0सो0, xix 13.18
69. VI. II. पा.टि.4.

●